शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बालचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

दिसम्बर : १९६१ ☆ वर्ष सत्रहवाँ, मंगसर, वीर नि०सं० २४८८ ☆ अंक : ८

दुनियाँ को भूलकर

आत्मरस में लीन हो

यह चैतन्यतत्त्व क्या है, उसका एक बार कुतूहल तो कर। मरकर.... अर्थात् चाहे जितनी प्रतिकूलता सहन करके भी कुतूहल कर! अनंत बार शरीर के हेतु आत्मा को लगाया, किंतु अब एक बार आत्मा के हेतु शरीर लगा तो भव न रहे। दुनिया को भूल! दुनिया की चिंता छोड़कर आत्मा के रस में लीन हो जा! पुरुषार्थ करके अंतर के परदे को तोड़ दे!

(समयसार प्रवचन भाग ३ से)

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[१९९]

एक अंक
चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

खास सूचना

सत्साहित्य योजना के अनुसंधान में जो पत्र आते हैं, उसमें पता पूरा न लिखने से देरी होती है। जो भी संस्थायें पत्र लिखें वे अपना नाम, गाँव, पता, जिला, रेलवेस्टेशन ठीक से अंग्रेजी में ही लिखें, या खूब अच्छी तरह साफ अक्षरों में लिखें।

इस योजनानुसार, सिर्फ संस्थाओं पाठशाला और मंदिरजी इत्यादि को ही भिजवाने के हैं। व्यक्तिगत नहीं।

व्यवस्थापक-पुस्तक प्रकाशन विभाग
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

जिज्ञासुओं को सूचना

समयसारजी शास्त्र का कर्ता-कर्म अधिकार जो महत्वपूर्ण और भेदविज्ञान के लिये प्रयोजनभूत रहस्य को प्रकाश में लानेवाला है। उस पर तथा समयसारजी में ४७ शक्तियों का सुंदर वर्णन है, उस पर पूज्य सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के विस्तार से प्रवचन हुए हैं, वह दोनों पुस्तक गुजराती में प्रकाशित हुई हैं। उसका हिन्दी अनुवाद तैयार है। यदि उक्त दोनों पुस्तक के प्रथम से ५०० प्रति के ग्राहक हो जावें तो प्रकाशन कराने का विचार है। ग्राहक बनने के इच्छुक अपना नाम तथा कितनी प्रति चाहिये वह श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, पोस्ट सोनगढ़ (सौराष्ट्र) इस पते पर लिखकर भेजने का कष्ट करें। [प्रत्येक पुस्तक करीब ५०० पृष्ठ में डेमी साइज की होगी, प्रत्येक का मूल्य करीब ४) होगा।]

समाचार

सोनगढ़ (सौराष्ट्र) पूज्य सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के एक आँख में मोतियाबिन्दु का ऑपरेशन शायद तारीख २४-१२-६१ के आस-पास होगा। तब से एक मास तक प्रवचन बंद रहेंगे, अन्य कार्यक्रम सब चालू रहेंगे। आनेवाले यात्री वर्ग को यह सूचना है। वर्तमान में प्रवचन में समयसारजी तथा मोक्षमार्ग प्रकाशक चलता है।

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बालचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

दिसम्बर : १९६१ ☆ वर्ष सत्रहवाँ, मंगसर, वीर नि०सं० २४८८ ☆ अंक : ८

तत्त्वार्थों की यथार्थ श्रद्धा करने के लिये कितेक विषयों पर प्रकाश

१—मोक्षशास्त्र—अध्याय १ सूत्र १ ले. नं. १ 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इस सूत्र के संबंध में श्री नियमसार शास्त्र गाथा २ की टीका में श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने कहा है कि 'सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्र' ऐसा वचन होने से मार्ग तो शुद्धरत्नत्रय है। इससे यह सूत्र शुद्धरत्नत्रय अर्थात् निश्चयमोक्षमार्ग की व्याख्या करता है। ऐसी वस्तुस्थिति होने से, इस सूत्र का कोई विरुद्ध अर्थ करे तो वह अर्थ मान्य करने योग्य नहीं है।

२—सूत्र, २ 'तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' यहाँ 'सम्यग्दर्शन' शब्द दिया है, वह निश्चय -सम्यग्दर्शन है और वही प्रथम सूत्र के साथ सुसंगत अर्थ है। कहीं शास्त्र में सात तत्त्वों को भेदरूप दिखाना हो, वहाँ भी 'तत्त्वार्थश्रद्धा' ऐसे शब्द आते हैं, वहाँ 'व्यवहारसम्यग्दर्शन' ऐसा उसका अर्थ करना चाहिये।

इस सूत्र में तो तत्त्वार्थश्रद्धान शब्द सात तत्त्वों को अभेदरूप दिखाने के लिये है। इसलिये सूत्र २ 'निश्चयसम्यग्दर्शन' की व्याख्या करता है।

इस सूत्र में 'निश्चयसम्यग्दर्शन' की व्याख्या की है। ऐसा अर्थ करने के कारण इस शास्त्र में पृष्ठ १६ से २० में स्पष्टतया दिखाया है, वह जिज्ञासुओं को सावधानतापूर्वक पढ़ने की विनती करने में आती है।

३—**प्रश्न**—वस्तुस्वरूप अनेकांत है और जैन शास्त्र अनेकांत विद्या प्रतिपादन करते हैं, तो

सूत्र १ में कथित निश्चय मोक्षमार्ग अर्थात् शुद्धरत्नत्रय और सू० थ में कथित निश्चय सम्यग्दर्शन को अनेकांत किस भाँति घटते हैं ?

उत्तर—(१) निश्चयमोक्षमार्ग, वही खरा (-सच्चा) मोक्षमार्ग है और व्यवहारमोक्षमार्ग सच्चा मोक्षमार्ग नहीं है; तथा निश्चयसम्यग्दर्शन, वही सच्चा सम्यग्दर्शन है, व्यवहारसम्यग्दर्शन सच्चा सम्यग्दर्शन नहीं है। और

(२) वह स्वाश्रय से ही प्रगट हो सकता है और पराश्रय से कभी प्रगट हो सकता नहीं —ऐसा अनेकान्त है;

(३) मोक्षमार्ग परमनिरपेक्ष है अर्थात् उसे पर की अपेक्षा नहीं है किंतु तीनों काल स्व की अपेक्षा से ही वह प्रगट हो सकता है, वह अनेकांत है।

(४) इसीलिये वह प्रगट होने में आंशिक स्वाश्रय और आंशिक पराश्रयपना है—(-अर्थात् वह निमित्त, व्यवहार, भेद आदि के आश्रय से है), ऐसा मानना वह सच्चा अनेकांत नहीं है परंतु वह मिथ्या-एकांत है, इसप्रकार निःसंदेह नक्की करना, वही अनेकांत विद्या है।

(५) सच्चा मोक्षमार्ग स्वाश्रय से भी हो और पराश्रय से भी हो, ऐसा माना जाये तो उसमें निश्चय और व्यवहार का स्वरूप (जो परस्पर विरुद्धता लक्षण सहित है, वह न रहकर) एकमेक हो जाये—निश्चय और व्यवहार दोनों का लोप हो जाये; अतः ऐसा कभी होता नहीं।

४-अध्याय १, सूत्र ७-८ में निश्चय सम्यग्दर्शनादि प्रगट करने के अमुख्य उपाय दिखाये हैं, वे उपाय अमुख्य अर्थात् भेदों और निमित्तमात्र हैं। यदि उनके आश्रय से अंशमात्र भी निश्चय धर्म प्रगट हो सके, ऐसा माना जाये तो वे उपाय अमुख्य न रहकर, मुख्य (-निश्चय) हो जाये, ऐसा समझना। अमुख्य अर्थात् गौण, और गौण (उपाय) को हेय-छोड़ने योग्य कहा है। (देखो, प्रवचनसार, गाथा ५३ की टीका)

निश्चयसम्यग्दर्शन जिस जीव ने स्वसन्मुख होकर प्रगट किया हो, वहाँ निमित्त-जो अमुख्य उपाय है, वह कैसे-कैसे होते हैं, वह इस सूत्र में दिखाते हैं। निमित्त, परपदार्थ है, उसे जीव जुटा सकते नहीं; ला सके, ग्रहण कर सके, ऐसा भी नहीं है। 'उपादान निश्चय जहाँ-तहाँ निमित्त पर होय' (बनारसीदासजी) इस बारे में मोक्षमार्गप्रकाशक (देहली) पृष्ठ ४५६ में कहा है कि 'तातैं जो पुरुषार्थ करि मोक्ष का उपाय करै है, तार्क सर्व कारण मिलै हैं, अर वाकै अवश्य मोक्ष की प्राप्ति हो है, ऐसा निश्चय करना।'

श्री प्रवचनसार, गाथा १६ की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य भी कहते हैं कि—

'निश्चय से पर के साथ आत्मा का कारकता का संबंध नहीं है, कि जिससे शुद्धात्मस्वभाव की प्राप्ति के लिये सामग्री (बाह्य साधन) ढूँढ़ने की व्यग्रता से जीव (व्यर्थ) परतंत्र होते हैं।'

५–इस शास्त्र के पृष्ठ ६ में नियमसार का आधार देकर 'निश्चय सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र' परम निरपेक्ष है, ऐसा दिखाया है, इससे उसका एक अंश जो 'निश्चयसम्यग्दर्शन' है, वह भी परम निरपेक्ष है अर्थात् स्वात्मा के आश्रय से ही और पर से निरपेक्ष ही होता है, ऐसा समझना। ('ही' शब्द वस्तुस्थिति की मर्यादारूप सच्चा नियम बताने के लिये है)

निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग के स्वरूप में कैसा निर्णय करना चाहिये।

६–'निश्चय से वीतरागभाव ही मोक्षमार्ग है, वीतरागभावनिके और व्रतादिक के कदाचित् कार्य कारणपनो है* तातैं व्रतादिक को मोक्षमार्ग कहे, सो कहने मात्र ही है'—(मोक्षमार्गप्रकाशक देहली, पृष्ठ ३७२)

धर्म परिणत जीव को वीतरागभाव के साथ जो शुभभावरूप रत्नत्रय (–दर्शनज्ञानचारित्र) होते हैं, उसे व्यवहारनय द्वारा उपचार से व्यवहारमोक्षमार्ग कहा है, जो कि वह रागभाव होने से बंधमार्ग ही है। ऐसा निर्णय करना चाहिये।

७–व्यवहारमोक्षमार्ग वास्तव में बाधक होने पर भी उसका निमित्तपना बताने के लिये उसे व्यवहारनय से साधक कहा है, उस कथन ऊपर से कितनेक ऐसा मानते हैं कि निश्चयमोक्षमार्ग से व्यवहारमोक्षमार्ग विपरीत (–विरुद्ध) नहीं है, किंतु दोनों हितकारी हैं, तो उनकी यह समझ (मान्यता) झूठ है। इस संबंध में मोक्षमार्गप्रकाशक देहली पत्र ३६५–६६ में कहा है कि—

मोक्षमार्ग दोय नाहीं। मोक्षमार्ग का निरूपण दोय प्रकार है। जहाँ सांचा मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग निरूपण, सो निश्चयमोक्षमार्ग है। और जहाँ जो मोक्षमार्ग तौ है नाहीं, परंतु मोक्षमार्ग का निमित्त है, वा सहचारी है, ताकौं उपचार करि मोक्षमार्ग कहिए, सो व्यवहारमोक्षमार्ग है, जातैं निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है। सांचा निरूपण सो निश्चय, उपचार निरूपण सो व्यवहार, तातैं निरूपण अपेक्षा दो प्रकार मोक्षमार्ग जानना। एक निश्चयमोक्षमार्ग है, एक व्यवहार –मोक्षमार्ग है। ऐसे दोय मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है। बहुरि निश्चय-व्यवहार दोऊनिकूं उपादेय माने है, सो भी भ्रम है। जातैं निश्चय-व्यवहार का स्वरूप तौ परस्पर विरोध लिये है।' जातैं समयसार विषैं ऐसा कह्या है—

* नैमित्तिक निमित्तपना

'व्यवहारोऽभूयत्थो, भूयत्थो देसिदो सुद्धणओ' याका अर्थ-व्यवहार अभूतार्थ है। सत्यस्वरूप को न निरूपे है, किसी अपेक्षा उपचार करि अन्यथा निरूपे है; बहुरि शुद्धनय जो निश्चय है, सो भूतार्थ है। जैसा वस्तु का स्वरूप है, तैसा निरूपै है, ऐसे इस दोऊनिका (दोनों नय का) स्वरूप तो विरुद्धता लिए है। (मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३६६)

प्रवचनसार गाथा २७३-७४ में तथा टीका में भी कहा है कि **मोक्ष तत्त्व का साधनतत्त्व शुद्ध ही है और वह चारों अनुयोगों का सार है।**

८- निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से मिथ्यादर्शन ज्ञान-चारित्र तो विरुद्ध है ही, परंतु निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से व्यवहारसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का स्वरूप तथा फल परस्पर विरुद्ध है, इसलिये ऐसा निर्णय करने के लिये कुछ आधार निम्नोक्त दिये जाते हैं—

१- श्री नियमसारजी (गुजराती अनुवादित) पत्र नं० १४९ निश्चय प्रतिक्रमण अधिकार की गाथा, ७७ से ८१ की भूमिका,

२- नियमसार गाथा ९१ पत्र १७३ कलश नंबर १२२,

३- नियमसार गाथा ९२ पत्र १७५ टीका

४- नियमसार गाथा १०९ पत्र २१५ कलश-१५५ नीचे की टीका,

५- नियमसार गाथा १२१ पत्र २४४ टीका

६- नियमसार गाथा १२३ पत्र २४९ टीका

७- नियमसार गाथा १२८ पत्र १५९-६० टीका तथा फुटनोट

८- नियमसार गाथा १४१ पत्र २८२ गाथा, १४१ की भूमिका,

प्रवचनसारजी (पाटनी ग्रंथमाला) में देखो—

९- गाथा ११ टीका पत्र नंबर १२-१३

१०- गाथा ४-५ टीका पत्र नंबर ७

११- गाथा १३ की भूमिका तथा टीका पत्र १४-१५

१२- गाथा ७८ टीका, पत्र ८८-८९

१३- गाथा ९२, टीका, पत्र १०४-५

१४- गाथा १५९ तथा टीका पत्र, २०३ (तथा इस गाथा के नीचे पंडित श्री हेमराजजी की टीका पत्र नंबर २२०) (यह पुस्तक हिन्दी में श्री रायचंद्र ग्रंथमाला की देखना)।

१५- गाथा २४८ तथा टीका पत्र ३०४, (तथा उस गाथा नीचे पंडित हेमराजजी की टीका हिन्दी पुस्तक-रायचंद्र ग्रंथमाला का)

१६- गाथा २४५ तथा टीका पत्र ३०१

१७- गाथा १५६ तथा टीका, पत्र २०१

१८- श्री अमृतचंद्राचार्य समयसारजी कलशों के ऊपर श्री राजमल्लजी टीका (सूरत से प्रकाशित) पुण्य पापाधिकार कलश ४, पत्र १०३-४

१९- कलश ५, पत्र १०४-५

२०- कलश ६, पत्र १०६ (इसमें धर्मी के शुभभावों को बंध मार्ग कहा है)

२१- कलश ८, पत्र १०८

२२- कलश ९, पत्र १०९

२३- कलश ११, पत्र ११२-१३ यह सभी कलश श्री समयसार पुण्य-पापाधिकार में है वहाँ से भी पढ़ लेना,

२४- योगेन्द्रदेवकृत योगसार गाथा दोहा नंबर ७१ में (-पुण्य को भी निश्चय से पाप कह है।)

२५- योगेन्द्रदेवकृत योगसार गाथा दोहा नंबर ३२, ३३, ३४, ३७

२६- श्री कुंदकुंदाचार्य कृत मोक्षपाहुड़ गाथा ३१

२७- समाधिशतक गाथा १९

२८- पुरुषार्थ सिद्धि उपाय गाथा २२०

२९- पंचास्तिकाय गाथा १६५, १६६-६७-६८-६९

३०- श्री समयसारजी कलश के ऊपर पण्डित बनारसी नाटक में पुण्य-पाप अध्याय
कलश १२, पृष्ठ १३१-३२
कलश ७, पृष्ठ २२६-२७
कलश ८, पृष्ठ २२७-२८

३१- समयसारजी शास्त्र मूल गाथा टीका गाथा ६९, ७०, ७१, ७२, ७४, ९२, गाथा ३८ तथा टीका, गाथा २१०, २१४, २७६-२७७-२९७ गाथा टीका सहित पढ़ना।

३२- १४५ से १५१, १८१ से १८३ पृष्ठ २९५ (-परस्पर अत्यंत स्वरूप विपरीतता होने से)

३३- ३०६-७ (शुभभाव व्यवहारचारित्र निश्चय से विषकुम्भ) २९७ गाथा में श्री जयसेनाचार्य की टीका में भी स्पष्ट खुलासा है।

३४- श्री मोक्षमार्गप्रकाशक (देहली, सस्ती ग्रंथमाला) पृष्ठ नंबर ४, ३२७-२८-३२-

३३-३४-३७-४०-४१-४२-४३-४४, ३६०-६१, ३६५ से ३७१ (३७१, ३७५-७६-७७ पत्र में खास बात है।) ३७२, ३७३-७५-७६-७७-९७, ४०७-८, ४५७, ४७१-७२।

व्यवहारनय के स्वरूप की मर्यादा

९-समयसार गाथा ८ की टीका में कहा है कि ''व्यवहारनय म्लेच्छ भाषा के स्थान पर होने से परमार्थ का कहनेवाला है, इसलिये व्यवहारनय स्थापित करने योग्य है परन्तु 'वह व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है।' फिर गाथा ११ की टीका में कहा है कि व्यवहारनय सब ही अभूतार्थ है, इसलिये वह अविद्यमान, असत्य अर्थ को, अभूत अर्थ को प्रगट करता है; शुद्धनय एक ही भूतार्थ होने से सत्य, भूत अर्थ को प्रगट करता है। ××बाद में कहा है कि××इसलिये जो शुद्धनय का आश्रय लेते हैं, वे ही सम्यक् अवलोकन करने से सम्यग्दृष्टि हैं, दूसरे सम्यग्दृष्टि नहीं हैं। इसलिये कर्मों से भिन्न आत्मा के देखनेवालों को व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है।'

गाथा ११ के भावार्थ में पंडित जी श्री जयचंदजी ने कहा है कि—

प्राणियों को भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो अनादिकाल से ही है, और इसका उपदेश भी बहुधा सर्व प्राणी परस्पर करते हैं। और जिनवाणी में व्यवहारनय का उपदेश शुद्धनय का हस्तावलंबन (सहायक) जानकर बहुत किया है; किंतु उसका फल संसार ही है। शुद्धनय का पक्ष तो कभी आया नहीं और उसका उपदेश भी विरल है,—वह कहीं कहीं पाया जाता है। इसलिये उपकारी श्रीगुरु ने शुद्धनय के ग्रहण का फल मोक्ष जानकर उसका उपदेश प्रधानता से दिया है, कि—''शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है; इसका आश्रय लेने से सम्यग्दृष्टि हो सकता है; इसे जाने बिना जब तक जीव व्यवहार में मग्न है, तब तक आत्मा का ज्ञान-श्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व नहीं हो सकता।'' ऐसा आशय समझना चाहिये ॥११॥

१०-कोई ऐसा मानते हैं कि प्रथम व्यवहारनय प्रगट हो और बाद में व्यवहारनय के आश्रय से निश्चयनय प्रगट होता है अथवा प्रथम व्यवहार धर्म करते-करते निश्चय धर्म प्रगट होता है तो वह मान्यता योग्य नहीं है, कारण कि निश्चय-व्यवहार का स्वरूप तो परस्पर विरुद्ध है (देखो, मोक्षमार्गप्रकाशक, देहली, पृष्ठ ३६६)

(१) निश्चयसम्यग्ज्ञान के बिना जीव ने अनंत बार मुनिव्रत पालन किये परंतु उस मुनिव्रत के पालन को निमित्तकारण नहीं कहा गया, कारण कि सत्यार्थ कार्य प्रगट हुए बिना साधक (निमित्त) किसको कहना ?

प्रश्न—"जो द्रव्यलिंगी मुनि मोक्ष के अर्थि गृहस्थपनों छोड़ि तपश्चरणादि करैं हैं, तहाँ पुरुषार्थ तौ किया, कार्य सिद्ध न भया, तातैं पुरुषार्थ किये तौ कछु सिदिद्ध नाहीं। ताका समाधान —अन्यथा पुरुषार्थ करि फल चाहे, तो कैसे सिद्धि होय? तपश्चरणादिक व्यवहार साधन विषैं अनुरागी होय प्रवत्तै, ताका फल शास्त्र विषैं तो शुभबंध कह्या है, अर यहु तिसतैं मोक्ष चाहै हैं, तो कैसैं सिद्धि होय! अतः यहु तौ भ्रम है।" (मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ४५६ देखो।)

(२) मिथ्यादृष्टि की दशा में कोई भी जीव को कभी भी 'सम्यक् श्रुतज्ञान' हो सकता नहीं, जिसको 'सम्यक् श्रुतज्ञान' प्रगट हुआ है, उसे ही 'नय' होते हैं, कारण कि 'नय' ज्ञान वह सम्यक् श्रुतज्ञान का अंश है। अंशी बिना अंश कैसा? 'सम्यक् श्रुतज्ञान' (भावश्रुतज्ञान) होते ही दोनों नय एकी साथ होय हैं, प्रथम और पीछे, ऐसा नहीं है। इसप्रकार सच्चे जैनधर्मी मानते हैं।

(३) वस्तुस्वरूप तो ऐसा है कि चतुर्थ गुणस्थान से ही निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट होता है और उसी समय सम्यक् श्रुतज्ञान प्रगट होता है, सम्यक् श्रुतज्ञान में दोनों नय अंशों का सद्भाव एकी साथ है, आगे-पीछे नय होते नहीं। निजात्मा के आश्रय से जब भावश्रुतज्ञान प्रगट हुआ, तब अपना ज्ञायकस्वभाव तथा उत्पन्न हुई जो शुद्धदशा, उसे आत्मा के साथ अभेद गिनना, वह निश्चयनय का विषय, और जो अपनी पर्याय में अशुद्धता तथा अल्पता शेष है, वह व्यवहारनय का विषय है। इसप्रकार दोनों नय एक ही साथ जीव को होते हैं। इसलिये प्रथम व्यवहारनय अथवा व्यवहार धर्म और बाद में निश्चयनय अथवा निश्चय धर्म, ऐसा वस्तुस्वरूप नहीं है।

११—प्रश्न- निश्चयनय और व्यवहारनय समकक्ष है, ऐसा मानना ठीक है?

उत्तर—नहीं, दोनों नय को समकक्षी माननेवाले एक संप्रदाय* हैं, वे दोनों को समकक्षी

---

* उस संप्रदाय की व्यवहारनय के संबंध में क्या श्रद्धा है? देखो—(१) युक्तिप्रबोध नाटक उसमें व्यवहारनय के आलंबन द्वारा आत्महित होना बताकर श्री समयसार नाटक तथा दिगम्बर जैनमत के सिद्धांतों का खंडन किया है तथा गुर्जर साहित्य संग्रह में पृष्ठ नंबर २०७, २१९, २२२, ५८४, ८५ में दिगम्बर जैनधर्म के खास सिद्धांतों का उग्र, (-सख्त) भाषा द्वारा खंडन किया है, उनने भी वे दिगम्बर आचार्यों का यह मत बताया है कि:—

(१) निश्चयनय होने पर ही व्यवहारनय हो सकता है—व्यवहारनय प्रथम नहीं हो सकता,

(२) प्रथम व्यवहारनय तथा व्यवहार धर्म और पीछे निश्चयनय और निश्चय धर्म ऐसा नहीं है।

(३) निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों समकक्ष नहीं हैं—परस्पर विरुद्ध हैं, उनके विषय और फल में विपरीतता है।

(४) निमित्त का प्रभाव नहीं पड़ता, ऐसा दिगंबर आचार्यों का मत है इन मूल बातों का उस संप्रदाय ने उग्र जोरों से खंडन किया है—इसलिये जिज्ञासुओं से प्रार्थना है कि उसमें कौन मत सच्चा है, उसका निर्णय सच्ची श्रद्धा के लिये करें—जो बहुत प्रयोजनभूत है-जरूरी बात है।

और दोनों के आश्रय से धर्म होता है, ऐसा निरूपण करते हैं परंतु श्री कुंदकुंदाचार्यदेव तो स्पष्टरूप से फरमाते हैं कि भूतार्थ के (निश्चय के) आश्रय से ही हमेशा धर्म होता है, पराश्रय से (व्यवहार से) कभी भी अंशमात्र भी सच्च्चा धर्म (-हित) नहीं होता। हाँ, दोनों नयों का तथा उसके विषयों का ज्ञान अवश्य करना चाहिये। गुणस्थान अनुसार जैसे-जैसे भेद आते हैं, वह जानना प्रयोजनवान है परंतु दोनों समान हैं—समकक्ष हैं, ऐसा कभी नहीं हैं, कारण कि दोनों नयों के विषय में और फल में परस्पर विरोध है; इसलिये व्यवहारनय के आश्रय से कभी भी धर्म की उत्पत्ति, वृद्धि और टिकना होता ही नहीं, ऐसा दृढ़ श्रद्धान करना चाहिये। समयसारजी में भगवान कुंदकुंदाचार्यदेव कृत ११ वीं गाथा को सच्च्चा जैनधर्म का प्राण कहा है, इसलिये उस गाथा और टीका का मनन करना चाहिये, गाथा निम्नोक्त है।

व्यवहारनय अभूतार्थ दर्शित, शुद्धनय भूतार्थ है;
भूतार्थ के आश्रित जीव सुदृष्टि निश्चय होत है, (काव्य में)

१२- **प्रश्न**-व्यवहारमोक्षमार्ग को मोक्ष का परम्परा कारण कहा है, वहाँ क्या प्रयोजन है ?

समाधान-(१) सम्यग्दृष्टि जीव अपने शुद्धात्मद्रव्य के आलंबन द्वारा अपनी शुद्धता बढ़ाकर जैसे-जैसे शुद्धता द्वारा गुणस्थान में आगे बढ़ेगा, तैसे-तैसे अशुद्धता (शुभाशुभ का) अभाव होता जायेगा और क्रमशः शुभभाव का अभाव करके शुक्लध्यान द्वारा केवलज्ञान प्रगट करेगा, ऐसा दिखाने के लिये व्यवहारमोक्षमार्ग को परम्परा (निमित्त) कारण कहा गया है। यह निमित्त दिखाने के प्रयोजन से व्यवहारनय का कथन है।

(२) शुभभाव ज्ञानी को भी आस्त्रव (-बंध के कारण) होने से वे निश्चयनय से परंपरा भी मोक्ष का कारण हो सकते नहीं। श्री कुंदकुंदाचार्य कृत द्वादशानुप्रेक्षा गाथा ५९ में कहा है कि **कर्मों का आस्त्रव करनेवाली क्रिया से परम्परा भी निर्वाण प्राप्त हो सकते नहीं; इसलिये संसार भ्रमण के कारण रूप आस्त्रव को निंद्य जानो ॥५९॥**

(३) पंचास्तिकाय गाथा १६७ में श्री जयसेनाचार्य ने कहा है कि—'श्री अर्हंतादि में भी राग छोड़ने योग्य है' पीछे गाथा १६८ में कहा है कि **धर्मी जीव का राग भी (निश्चयनय से) सर्व अनर्थ का परम्परा कारण है।**

(४) इस विषय में स्पष्टीकरण श्री समयसारजी गाथा ६० (गुजराती अनुवाद) पृष्ठ ११७ फुटनोट नं० ३ में कहा है कि 'शुभोपयोग व्यवहार व्रत शुद्धोपयोग का हेतु है और शुद्धोपयोग मोक्ष

का हेतु है, ऐसा गिनकर के यहाँ उपचार से व्यवहारव्रत को मोक्ष के परंपरा हेतु कहा है, वास्तव में तो शुभोपयोगी मुनि के योग्य शुद्धपरिणति ही (शुद्धात्मद्रव्य की आलम्बन करती होने से) विशेष शुद्धिरूप शुद्धोपयोग हेतु होती है, इसप्रकार इस शुद्धपरिणति में स्थित जो मोक्ष के परंपरा हेतुपना का आरोप उसकी साथ रहा हुआ शुभोपयोग में करके व्यवहार व्रत को मोक्ष का परम्परा हेतु कहने में आता है। परंतु जहाँ शुद्धपरिणति ही न हो, वहाँ रहा हुआ शुभोपयोग में मोक्ष के परम्परा हेतुपने का आरोप भी कर सकते नहीं, कारण कि जहाँ मोक्ष का यथार्थ हेतु प्रगट हुआ ही नहीं—विद्यमान ही नहीं, वहाँ शुभोपयोग में आरोप किसका करना ?'

(५) और पंचास्तिकाय गाथा १५९ (गुजराती अनुवाद) पृष्ठ २३३-३४ में फुटनोट नं० ४ में कहा है कि—'जिनभगवान के उपदेश में दो नयों द्वारा निरूपण होता है। वहाँ, निश्चयनय द्वारा तो सत्यार्थ निरूपण किया जाता है और व्यवहारनय द्वारा अभूतार्थ उपचरित निरूपण किया जाता है।

प्रश्न—सत्यार्थ निरूपण ही करना चाहिये; अभूतार्थ उपचरित निरूपण किसलिये किया जाता है ?

उत्तर—जिसे सिंह का यथार्थ स्वरूप सीधा समझने में नहीं आता हो, उसे सिंह के स्वरूप के उपचरित निरूपण द्वारा अर्थात् बिल्ली के स्वरूप के निरूपण द्वारा सिंह के यथार्थ स्वरूप की समझ की ओर ले जाता है; उसीप्रकार जिसे वस्तु का यथार्थ स्वरूप सीधा समझ में न आता हो, उसे वस्तुस्वरूप के उपचरित निरूपण द्वारा वस्तुस्वरूप की यथार्थ समझ की ओर ले जाते हैं। **और लम्बे कथन के बदले में संक्षिप्त कथन करने के लिये भी व्यवहारनय द्वारा उपचरित निरूपण किया जाता है।** यहाँ इतना लक्ष्य रखने योग्य है कि—जो पुरुष बिल्ली के निरूपण को ही सिंह का निरूपण मानकर बिल्ली को ही सिंह समझ ले, वह तो उपदेश के ही योग्य नहीं है; उसीप्रकार जो पुरुष उपचरित निरूपण को ही सत्यार्थ निरूपण मानकर वस्तुस्वरूप को मिथ्यारीति से समझ बैठे, वह तो उपदेश के ही योग्य नहीं है।

[यहाँ एक उदाहरण दिया जाता है—साध्य—साधन संबंधी सत्यार्थ निरूपण इसप्रकार है कि 'छठवें गुणस्थान में वर्तती हुई आंशिक शुद्धि, सातवें गुणस्थान योग्य निर्विकल्प शुद्ध परिणति का साधन है।' अब, 'छठवें गुणस्थान में कैसी अथवा कितनी शुद्धि होती है,—इस बात को भी साथ की साथ समझाना हो तो, विस्तार से ऐसा निरूपण किया जाता है कि 'जिस शुद्धि के सद्भाव में, उसके साथ-साथ महाव्रतादि के शुभ विकल्प हठ बिना सहजरूप से प्रवर्तमान हों, वह छठवें

गुणस्थान योग्य शुद्धि सातवें गुणस्थान योग्य निर्विकल्प शुद्धपरिणति का साधन है।' ऐसे लम्बे कथन के बदले में, ऐसा कहा जाये कि 'छठवें गुणस्थान में प्रवर्तमान महाव्रतादि के शुभविकल्प सातवें गुणस्थान योग्य निर्विकल्प शुद्धपरिणति का साधन है', तो यह उपचरित निरूपण है। ऐसे उपचरित निरूपण में से ऐसा अर्थ निकालना चाहिये कि 'महाव्रतादि के शुभ विकल्प (साधन) नहीं किंतु उनके द्वारा जिस छठवें गुणस्थान योग्य शुद्धि को बताना था, वह शुद्धि वास्तव में सातवें गुणस्थान योग्य निर्विकल्प शुद्ध परिणति का साधन है।']

(६) परम्परा कारण का अर्थ निमित्तकारण है, व्यवहारमोक्षमार्ग को निश्चयमोक्षमार्ग के लिये भिन्न साधन-साध्यरूप से कहा है, उनका अर्थ भी निमित्तमात्र है। जो निमित्त का ज्ञान न किया जाये तो प्रमाणज्ञान होता नहीं, इसलिये जहाँ-जहाँ उसे साधक, साधन, कारण उपाय, मार्ग, सहकारी कारण, बहिरंग हेतु कहा है, वे सभी उस उस भूमिका के संबंध में जानने योग्य निमित्त कारण कैसा होता है, उसका यथार्थ ज्ञान कराने के लिये है।

जो गुणस्थान अनुसार यथायोग्य साधकभाव, बाधकभाव और निमित्तों को यथार्थतया न जाने तो वह ज्ञान मिथ्या है। कारण कि उस संबंध में सच्चे ज्ञान के अभाव में अज्ञानी ऐसा कहता है कि भावलिंगी मुनिदशा नग्नदिगम्बर ही हो, ऐसी कोई आवश्यकता नहीं है तो उनकी यह बात मिथ्या ही है, कारण कि भावलिंगी मुनि को उस भूमिका में तीन जाति के कषाय चतुष्टय का अभाव और सर्व सावद्ययोग का त्यागसहित २८, मूलगुणों का पालन होते हैं, इसलिये उसे वस्त्र का संबंधवाला राग अथवा उसप्रकार का शरीर का राग ही कभी भी होता ही नहीं, ऐसा निरपवाद नियम है। इसप्रकार गुणस्थानानुसार उपादान-निमित्त दोनों का यथार्थ ज्ञान होना चाहिये। साधक जीव का ज्ञान ऐसा ही होता है जो उस-उस भेद को जानता संता प्रगट होता है। समयसार शास्त्र में गाथा १२ में मात्र, इस हेतु से व्यवहारनय को जानने के लिये प्रयोजनवानपना बतलाया है।

स्व. श्री दीपचंदजी कृत ज्ञानदर्पण, पृष्ठ २९-३० में कहा है कि, याही जगमाहीं ज्ञेय भावको लखैया ज्ञान, ताकौ धरि ध्यान आन काहे पर हेरै है। पर के संयोग तैं अनादिदु:ख पाए अब, देखि तू सँभारि जो अखंड निधि तेरै है। वाणी भगवान की कौ सरल निचौर यहै, समैसार आप पुन्य-पाप नाहिं नेरै है। यातै यह ग्रन्थ शिवपंथ को सधैया महा, अरथ विचारि गुरुदेव यौं परेरै है ॥८५॥ व्रत तप शील संजमादि उपवास किया, द्रव्य भावरूप दोउ बंध को करतु है। करम जनित तातैं करम को हेतु महा, बंध हो की करे मोक्ष पंथ को हरतु है। आप जैसी होइ ताकौं आपकै समान करै, बंध ही

कौ मूल यातैं बंधकौं भरतु हैं। याकौं परंपरा अति-तूति करैं, कोई महा मूढ़ भवसिंधु में परतु है ॥८६॥ कारण समान काज सब ही बखानतु है, यातै परक्रियामहिं पर की धरणि है। याहि तै अनादि द्रव्य क्रिया तौ अनेक करी, कछु नाहिं सिद्धि भई ज्ञान की परणि है। करम को बंस जामैं ज्ञानकौ न अंश कोउ, बढै भववास मोक्षपंथ की हरणि है। यातै परक्रिया उपादेय तौ न कही जाय, तातै सदाकाल एक बंध की ठरणि है ॥८७॥ पराधीन बाधायुत बंध की करैया महा, सदा विनासीक जाकौ ऐसो ही सुभाव है। बन्ध, उदै, रस, फल, जीमैं चार्यों एक रूप, शुभ व अशुभ क्रिया एक ही लखाव है। करम की चेतना में कैसैं मोक्षपंथ सधै, मानैं तेई मूढ़ हीए जिनके विभाव है। जैसो बीज होय ताकौ तैसो फल लागै जहाँ, यह जग मांहि जिन आगम कहाव है ॥८८॥

जीव और अजीव तत्त्वों का मूलभूत भेदज्ञान करानेवाले पूज्य गुरुदेव के

प्रवचन

[प्रवचनसार गाथा १६०]

अब, शरीरादि परद्रव्यों के प्रति भी मध्यस्थता प्रगट करते हैं—

णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण ण कारयिदा अणुमंता णेव कात्तिणं॥१६०॥

अन्वयार्थ—मैं देह नहीं हूँ; मन नहीं हूँ; तथा वाणी नहीं हूँ; उनका कारण नहीं हूँ; और न कर्त्ता का अनुमोदक हूँ।

धर्मात्मा को शरीरादि परपदार्थों के प्रति पक्षपात नहीं है

(१) धर्मी जीव शरीर, मन, वाणी को अपना नहीं मानता। शरीर, मन, वाणी परद्रव्य हैं, इसलिये मुझे उनके प्रति पक्षपात नहीं है; अर्थात् यह शरीर अमुक स्थिति में रहे तो अच्छा—ऐसा मेरा अभिप्राय नहीं है; इसप्रकार का शरीर हो तो ठीक—ऐसी बुद्धि नहीं है; धर्मी जीव तो शरीर,

मन, वाणी को सदैव परद्रव्य मानता है, इसलिये उनके प्रति उसे पक्षपात नहीं है। वाणी तो वाणी के कारण निकलती है। मेरे कारण नहीं निकलती। परद्रव्य की वर्तमान अवस्था कैसी रहना चाहिये, वह आत्मा के आधीन नहीं है। वाणी उच्च स्वर में बोली जाये तो ठीक—ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है।

(२) शरीर का मैं स्वामी नहीं हो सकता; शरीर, मन, वाणी परद्रव्य हैं; शरीर की दशा जो होनी हो, वह हो; मुझे उसमें पक्षपात नहीं है। शरीर अनुकूल रहे तो ठीक—ऐसा पक्षपात करता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

(३) शरीर नष्ट हो या रहे, वाणी मौन रहे या बोली जाये—वह तो पुद्गल की दशा है, परद्रव्य के प्रति मुझे पक्षपात का अभाव हुआ है; किंचित् भी पक्षपात नहीं है। देखो, सम्यग्दृष्टि की भावना! मैं नित्य ज्ञाता-दृष्टा हूँ, ऐसा यथार्थ निश्चय है। किंचित् पक्षपात नहीं है, यह बात तो नास्ति से कही है; तो फिर अस्ति क्या?—तो कहते हैं कि शरीर की जो दशा होना हो वह हो; वाणी निकले या न निकले, मेरा उससे कोई संबंध नहीं है। परपदार्थ से मैं भिन्न हूँ; मैं तो सबके मध्य में साक्षीरूप ज्ञाता हूँ। परद्रव्य में अमुक परिवर्तन हो तो ठीक, और न हो तो ठीक नहीं—ऐसा पक्षपात मुझे नहीं है; मैं तो शरीर, मन, वाणी आदि के प्रति मध्यस्थ हूँ।

(४) 'तत्त्वार्थ श्रद्धान' में जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ऐसे सात तत्त्वों की श्रद्धा आती है। जीव ज्ञाता है; शरीर, मन, वाणी आदि अजीव हैं; अजीव की पर्याय ऐसी हो तो मुझे अनुकूलता रहे, ऐसा मानने में तो जीव-अजीव की एकताबुद्धि होती है। अजीव की पर्याय चाहे जैसी हो, मैं तो जाननेवाला (ज्ञायक) हूँ—ऐसा निर्णय करके यदि अजीव के प्रति मध्स्थर है तो धर्म होता है।

(५) यह बात पाँच प्रकार से समझाई है:—१. आधार, २. कारण, ३. कर्त्ता, ४. प्रेरक (करानेवाला), ५. अनुमोदक।

(१) शरीरादि का आधार अचेतन द्रव्य है, मैं उनका आधार नहीं हूँ।

(६) वास्तव में शरीर, मन, वाणी तथा उनके स्वरूप के आधारभूत ऐसा अचेतन द्रव्य नहीं हूँ। छाती में जो आठ पंखुड़ियों के खिले हुए कमल के आकार का सूक्ष्म परमाणुओं से निर्मित (जड़) मन है, वह मैं नहीं हूँ, वह मेरा नहीं है। शरीर, मन आदि का आधार अचेतनद्रव्य है; इसलिये मैं उनका आधार नहीं हूँ।

(७) आत्मा है तो शरीर चलता है; वाणी निकलती है—ऐसा नहीं है। धर्मात्मा समझता है कि शरीर के, मन के तथा वाणी के स्वरूप का आधार मैं नहीं हूँ; मेरे (आत्मा के) आधार से शरीर उठता-बैठता नहीं है; जीव-अजीव सदा एक-दूसरे से भिन्न हैं। पुद्गल की वर्तमान पर्याय आधेय है और अचेतन उसका आधार है; मैं किंचित् आधार नहीं हूँ।

(८) प्रत्येक परमाणु में सदा स्वतंत्र 'आधार' नाम का गुण है; उसी के आधार से उसकी नई-नई अवस्थाएँ होती हैं; इसलिये शरीर का उठना-बैठना आत्मा के आधार से नहीं होता।

(९) मिथ्यादृष्टि मानता है कि शरीर अमुक स्थिति में रहे तो ठीक; शरीर का आरोग्य ही सचमुच धर्म का साधन है—ऐसा मानकर उसमें एकत्वबुद्धि करता है। ऐसी वाणी निकलना चाहिये, शरीर की ऐसी स्थिति होना चाहिये—ऐसा मिथ्यादृष्टि मानता है।

(१०) मध्यस्थ अर्थात् मध्य में स्थित। शरीरादि के मध्य में स्थित होने पर भी मैं असंग ज्ञातादृष्टा हूँ; शरीर-वाणी की क्रिया उसके अपने काल में होती है; हलन-चलन की क्रिया अचेतन है और उसका आधार भी जड़ द्रव्य है। मेरे द्रव्य के आधार से शरीर तथा मन स्थित नहीं हैं; वाणी भी मेरे आधार से नहीं निकलती; आत्मा के आधार से शरीर की अवस्था नहीं होती।

(११) प्रथम श्रेणी का जैन अर्थात् प्रारम्भिक जैन (श्रावक होने से पूर्व का जैन) ऐसा मानता है कि—शरीर, मन, वाणी का आधारभूत अचेतन द्रव्य है, वह मैं नहीं हूँ।

(२) आत्मा शरीरादि की अवस्था का कारण नहीं है।

(१२) अब कारण की बात कहते हैं। धर्मात्मा जीव (सम्यग्दृष्टि जीव) ऐसा समझता है कि—शरीर, मन, वाणी अचेतनद्रव्य है; उनका कारण अचेतन द्रव्य है; मैं नहीं हूँ। शरीर चलता है, होंठ हिलते हैं, उसका कारण अचेतन द्रव्य है, मैं नहीं हूँ। क्षणिक उपादान की योग्यता से उनकी गति-स्थिति होती है। जो निमित्त के कारण शरीरादि की अवस्था मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

(१३) सचमुच आत्मा के कारणत्व एवं आधार बिना ही शरीर की अनेक अवस्थाएँ होती हैं; इसलिये उनके कारणपने का पक्षपात छोड़कर मैं अत्यंत मध्यस्थ हूँ। परद्रव्य को अवस्था स्वयं (उसी से) होती है; राग के (इच्छा के) कारण पर की अवस्था नहीं होती। भूमिकानुसार राग होता है, वह गौण है—हेय है, उसका कारण व्यवहार से मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ—ऐसी प्रतीति करना सो धर्म है।

(३) पुद्गल का कर्तृत्व पुद्गल में ही है

(१४) अब स्वतंत्र कर्तृत्व से दो द्रव्यों के भेदज्ञान का विचार करते हैं। जिसप्रकार मैं

पुद्गल का आधार तथा कारणरूप नहीं हूँ; उसीप्रकार स्वतंत्र ऐसे शरीर, मन, वाणी का कर्ता-अचेतन द्रव्य-भी मैं नहीं हूँ। 'स्वतंत्ररूप से करे सो कर्ता।' भगवान आत्मा (प्रत्येक आत्मा) त्रिकाल ज्ञातास्वरूप है, किंतु कर्तारूप नहीं है। मैं स्वयं स्थित रहकर परिवर्तित होनेवाला हूँ; सामने अनंत पुद्गलात्मक परमाणु ज्ञेय हैं; वे स्वयं स्थित रहकर परिवर्तित होने से शक्तिमान हैं; उनका कर्त्ता कोई ईश्वर नहीं है और न कोई आत्मा ही उनकी अवस्था का कर्ता है; और कर्ता के बिना कोई पर्याय नहीं होती, इसलिये वह पदार्थ ही स्वयं अपनी पर्याय का कर्त्ता है; क्योंकि जो करे—परिणमित हो, वह कर्त्ता है। पर्याय, पर्यायवान से एकाकार होती है; अंश, अंशी से (पर्याय-पर्यायवान से) पृथक् नहीं होता।—इसप्रकार वास्तव में पुद्गल का कर्तृत्व पुद्गल में होने से मैं उसके कर्तृत्व का पक्ष छोड़कर अत्यंत मध्यस्थ हूँ।

(४) वास्तव में आत्मा शरीर की क्रिया का प्रेरक नहीं है

(१५) यह शरीरादि की जो-जो अवस्थाऐं होती हैं, उनका प्रयोजक कौन? वास्तव में वह पुद्गलद्रव्य ही स्वयं प्रयोजक है। यदि मैं प्रयोजक होऊँ तो मुझमें अचेतनता का आरोप होगा; परंतु वे मेरे बिना अर्थात् मैं उनका कर्ता हुए बिना ही वे किये जाते हैं और ऐसा ही पदार्थ का स्वरूप है। स्व से सत्रूप है, पर से नहीं है—ऐसा ज्ञान में, वाणी में और पदार्थ में आता है; सर्वत्र स्वतंत्र पदार्थ की प्रसिद्धि हो रही है। एक के कारण दूसरे का कार्य माननेवाले ने पदार्थ के स्वतंत्र स्वरूप को स्वीकार नहीं किया है।

(१६) धर्मी जीव तो ऐसा मानता है कि—मेरे कराये बिना ही वे अपने प्रयोजक हैं। मंडप, मकानादि जड़ पदार्थों की योजना अर्थात् व्यवस्था का कर्त्ता जड़ है, मैं उसका कर्ता नहीं हूँ।

(५) आत्मा परपदार्थ की अवस्था का अनुमोदन करनेवाला नहीं है

(१७) अब अंतिम बोल कहते हैं। वास्तव में मैं, स्वतंत्र ऐसे शरीर-मन-वाणी का कर्त्ता जो अचेतन द्रव्य उसका, अनुमोदक नहीं हूँ। शरीरादि की रचना करनेवाल जड़ द्रव्य है; उसका मैं अनुमोदक नहीं हूँ! शरीर निरोग रहा तो अच्छा हुआ—ऐसी अनुमोदनारूप मैं नहीं हूँ; यह वाणी इसप्रकार निकले तो ठीक—इसप्रकार वाणी का अनुमोदक मैं नहीं होता; अर्थात् उसमें मेरी सम्मति नहीं है; इसलिये कर्त्ता, कारण, आधार, प्रेरक, अनुमोदकपने का पक्षपात मैं छोड़ता हूँ। मैं अत्यंत मध्यस्थ ज्ञाता हूँ। निश्चय से पुद्गलपने अपनी व्यवस्था की है। प्रत्येक वस्तु स्वयं अपनी व्यवस्था करती है, किंतु पर के द्वारा उसकी व्यवस्था नहीं होती—इसप्रकार अस्ति-नास्ति

द्वारा प्रत्येक वस्तु का पर से पृथक्त्व और स्वस्वरूप से एकत्व सिद्ध करना, सो अनेकांत है।

(१८) इसप्रकार जीव-अजीव का भेदज्ञान कराया। जीव का एक भी अंश अजीव में मिलाये या अजीव का एक भी अंश जीव में मिलाये तो जीव-अजीव का भेदज्ञान कभी नहीं हो सकता। और जिसे ऐसा भेदज्ञान न हो, वह जीव के त्रिकाली स्वरूप और आस्रव का भेदज्ञान कभी नहीं कर सकता—ऐसा समझना।

पद्मनन्दि पंचविंशतिका

दान अधिकार

[जामनगर में परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के प्रवचन]

(माघ शुक्ला २, तारीख १८-१-६१)

मिथ्या मान्यता, अज्ञान तथा रागादि के त्यागपूर्वक आत्मा में सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय की शांति और अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट करना, सो सच्चा दान है। अपूर्ण दशा—गृहस्थदशा में किसप्रकार का राग और विवेक होता है, वह बतलाते हैं। आचार्यदेव ने प्रथम गाथा में कहा है कि—जगत् के जीव अंतर के आनन्द को भूलकर लोभरूपी गहरे कुएँ की खोह में फँसे हैं; उन्हें बाहर निकालने के लिये यह उपदेश है।

आत्मा ज्ञानानंदमूर्ति प्रभु है, तथा परवस्तुएँ मुझसे भिन्न हैं; उनमें मेरा कुछ नहीं है, उसे भूलकर पर में अपनेपन की मान्यता से अज्ञानी जीव अनादिकाल से दु:खी हो रहे हैं। मैं उनका और वह मेरा, इसप्रकार मोह द्वारा अपने में तृष्णा-क्लेशा को करता है, सच्ची बात, हितकर बात का स्वीकार नहीं करता।

स्वयं शरीर की अपेक्षा रहित शाश्वत ज्ञानानंदमूर्ति है; उसकी महिमा, प्रीति, रुचि, ममत्व छोड़कर, पर को अनुकूल या प्रतिकूल मानकर अज्ञानी पर से लाभ-हानि मानता है। जो पुण्य को धर्म मान बैठे हैं, उनकी बात नहीं है, किंतु जिन्हें धर्म की प्रतीति है—प्रेम है, उन्हें दान का विवेक

बतलाते हैं और जिन्हें धर्म में जिज्ञासा है, उन्हें भी धर्मात्मा को पहिचानकर दान देने का उपदेश है। धर्म की रुचि कराने के लिये तृष्णा घटाने का जो उपदेश है, वह तो अनादि का है, नया नहीं है।

'अपने को आप भूल के हैरान हो गया'—इस कथन के अनुसार जीव अनादिकाल से अपने को भूलकर पर को अपना मानता आ रहा है। काम-क्रोधादि पाप है; दया-दान-व्रत तथा पूजा-भक्ति के भाव पुण्य हैं; दोनों बंधन के कारण हैं, उपाधि हैं, अनित्य हैं; और आत्मा सदा ज्ञायकस्वभावी है; उसकी रुचि छोड़कर जीव, शरीरादि करता है, तब तक पुण्य-पाप के फल में देव, मनुष्य, तिर्यंच तथा नारकी—इन चार गतियों में भटकता रहता है। पर में कर्ता-भोक्तापना तथा स्वामित्व मानकर तृष्णा के गहरे कूप में पड़ा हुआ है, उसे बाहर कैसे निकालना, वह बात जीव ने कभी भावपूर्वक नहीं सुनी।

मेंहदी के पत्ते में शक्तिरूप से लाली भरी हुई है, इसलिये पीसने से वह प्रगट होती है; दियासलाई में भी अप्रगट शक्तिरूप से अग्नि भरी हुई है, उसीप्रकार आत्मा में शक्तिरूप से परमानंद-ज्ञानानंदसम्पदा विद्यमान है, उसे सत् समागम से पहिचानकर अंतर्मुखदृष्टि से अंतर में एकाग्र हो तो वह प्रगट होती है, किंतु ऐसा न मानकर शरीर-मन-वाणी संयोग का लक्ष करके बाह्य में शुभरागरूप व्यवहार की रुचि करके पराश्रित हो रहा है।

धर्म के नाम से अथवा जगत् की सेवा के नाम से मंदकषाय करे तो पुण्य की धूल मिलती है; वह तो चलती-फिरती छाया है; उसमें आत्मा की प्राप्ति नहीं होती। बुद्धि अधिक हो तो उसके कारण रुपया-पैसा नहीं मिलता, किंतु पूर्व-पुण्य के अनुसार ही मिलता है।

अमेरिका में बड़े-बड़े कसाईखानेवाले लाखों रुपये कमाते हैं; कोई झूठ बोलकर, चोरी करके धन का संयोग प्राप्त करते हैं; तो क्या वर्तमान पाप के कारण वह पैसा मिल रहा है?—नहीं, वह तो पाप-बंध करता है, और वर्तमान में जो धन-सम्पत्ति दिखाई देती है, वह पूर्व पुण्य का फल है।

वर्तमान में जो शुभ-अशुभ विकार करता है, उसकी रुचि करता है (उसे करने योग्य मानता है), वह त्रिकाली ज्ञानानंद की रुचि करता ही नहीं; इसलिये चौरासी के अवतारों में परिभ्रमण करके लोभ के कुएँ में पड़ा है। यहाँ तो—पुण्य-पाप की रुचि हटकर जिसे पवित्र आत्मा की रुचि हुई है, किंतु अभी गृहस्थदशा में है, उसे लोभ कम कराके वीतरागी मार्ग का बहुमान कराने का उपदेश है।

आचार्यदेव सुपात्रदान की महिमा बतलाते हुए कहते हैं कि—नदी जहाँ से निकलती है,

वहाँ बहुत थोड़ा प्रवाह होता है; फिर आगे बढ़ने पर अनेक नदियों का संगम होता है और समुद्र के निकट पहुँचकर उछलती हुई उसमें मिल जाती है; उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि श्रावक के यहाँ पहले थोड़ी लक्ष्मी होती है, फिर मुनि-धर्मात्मा को आहार-दान देने का सुयोग प्राप्त होने पर पुण्य के कारण लक्ष्मी में वृद्धि होती है और आगे बढ़कर देव तथा इन्द्रादि पद की सम्पदा भी प्राप्त होती है। किंतु सम्यग्दृष्टि को पुण्य या पाप का आदर नहीं है।

जिसप्रकार किसान घास या भूसे के लिये अनाज नहीं बोता; घास-भूसे पर उसकी दृष्टि नहीं होती किंतु अनाज के दानों पर दृष्टि होती है; उसीप्रकार ज्ञानस्वरूप का भान होने पर ज्ञानी जीव सच्चे देव-गुरु-शास्त्र और धर्म के लिये दान-पूजा-प्रभावना तथा भक्ति आदि करता है, किंतु पुण्य पर उसकी दृष्टि नहीं होती; इसलिये उसे अपार एवं अपूर्व पुण्य बँधते हैं।

जिसप्रकार, जहाँ हजारों मन अनाज पैदा होता है, वहाँ घास-फूस की क्या गिनती ? वह तो होगा ही; उसीप्रकार धर्मजिज्ञासु धर्मात्मा जीव की दृष्टि जब पूर्ण शुद्ध चैतन्य पर पहुँचती है, वहाँ बीच में साधक भूमिका में भक्ति-दानादि का शुभराग आता ही है और उसके फल में महान लोकोत्तर पुण्य बँधते हैं। धर्मी की दृष्टि वीतरागस्वभाव पर होती है; शरीरादि के संयोग पर अथवा अनुकूलता की आशा और प्रतिकूलता के भय पर उसकी दृष्टि नहीं होती; किंतु स्वद्रव्य के आश्रय से कैसी निर्मलता हुई तथा कैसी होगी—उसे जानता हुआ नित्य ज्ञातास्वभाव पर दृष्टि रखता है।

संवत् १९९१ की बात है। जामनगर जाते समय अलियाबाड़ा गाँव में करीब १५०० आदमी खास धर्म श्रवण के लिये आये थे। एक भाई साथ में ढाई हाथ लम्बा बाजरे का भुट्टा बतलाने के लिये लाये थे। भुट्टे को देखने से ज्ञात होता है कि जैसा बीज बोयेगा वैसा ही भुट्टा होगा, किंतु यहाँ इतना अंतर है कि धर्मी को शुद्धता की दृष्टि है, इसलिये उसके फल में पूर्ण पवित्र होता है, किंतु पूर्ण दशा न हो तो सुपात्र को दानादि तथा व्रतादि के शुभभाव से उसे सहज ही ऐसा महान पुण्य बँध जाता है कि उसके फल में इन्द्रादि पद प्राप्त होता है। भगवान तीर्थंकर देव के जन्म कल्याणक के समय स्वर्ग के देव ऐरावत हाथी का दिव्यरूप धारण करके उत्सव मनाने आते हैं और असंख्यात देवों सहित मेरुपर्वत पर जन्माभिषेक का उत्सव करते हैं; उनके पुण्य का वर्णन साधारण जीवों की समझ में नहीं आ सकता।

धर्मी जीव को पर्याय-पर्याय में विवेक होता है। देव-गुरु-धर्म के हेतु प्राण देने पर भी अभिमान नहीं, आशा नहीं। जिसप्रकार अच्छा किसान घास के लिये नहीं बोता, किंतु अनाज पर

दृष्टि रहती है; उसीप्रकार धर्मी जीव पुण्य अर्थात् संसार के लिये धर्म नहीं करता; क्योंकि पुण्य की महिमा उसकी दृष्टि से निकल गई है और पूर्ण स्वभाव पर दृष्टि स्थिर हुई है।

* * *

[माघ शुक्ला ३, तारीख १९-१-६१]

संसार में परिभ्रमण करते हुए जीव ने पूर्व भव में अज्ञानपूर्वक दया-दान किये हैं किंतु एक बार भी सम्यग्ज्ञानपूर्वक सुपात्र को दान नहीं दिया। बाह्य क्रिया की बात नहीं है किंतु आत्मा स्वयं अंतर में शांत ज्ञानानन्दरस तथा पूर्ण सामर्थ्य से परिपूर्ण है; मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ, निर्बलता के कारण जो राग उठता है, उतना ही मैं नहीं हूँ—ऐसे भानसहित सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति बहुमान-विनय के शुभभाव कैसे होते हैं, उसकी यह बात है; उसमें राग का नहीं किंतु वीतरागी दृष्टि तथा वीतरागी स्थिरता-चारित्र का आदर है। स्वरूप में स्थिरता न हो, तब ज्ञानी को दानादि के पुण्यभाव होते हैं; सच्चे मार्ग की प्रभावना में दान का विशेष भाव आता है, तथापि वहाँ भी वीतरागता की रुचि और अनुमोदना है।

मेरा ज्ञानानन्दस्वरूप, धन-सम्पत्ति तथा उसके कारणभूत पुण्य से रहित है;—ऐसे भान तथा अंशतः स्थिरता द्वारा जो जिनेश्वर के मार्ग में है, उसकी भक्ति तथा दान को 'व्यवहार' कहा जाता है। यह तो लोभरूपी गहरे कूप में पड़े हुए को बाहर निकालने की बात है। मेरा स्वरूप निर्विकार स्वच्छ ज्ञानमय है—ऐसी प्रभुता का जिसे प्रेम, रुचि-आदर है, उसे दान देने का भाव आता है।

कोई सेठ बन गया हो तो उसे विचार करना चाहिये कि मैंने पचास वर्ष तक मेहनत-मजदूरी की तो उसके अनुसार दो सौ रुपया मासिक अथवा अधिक की गिनती करके दान देना चाहिये। उसीप्रकार स्त्रियों को भी स्वतंत्रतारूप से दान देना चाहिये। घर में लड़के या लड़की का विवाह हो तो दस-बीस हजार खर्च करता है; तो क्या वहाँ चंदा करने जाता है?—जिसप्रकार वहाँ सहायता नहीं माँगता; उसीप्रकार जिनमंदिर और प्रतिष्ठा-उत्सव आदि करानेवाले को भी अपनी शक्ति के अनुसार करना चाहिये; वहाँ किसी की सहायता माँगना उचित नहीं और न मान-बड़प्पन में आकर ही कुछ करना चाहिये।

इस शास्त्र की ४६ वीं गाथा में आता है कि—**लोभ की मूर्ति ऐसे कृपण जीवों का जीवन व्यर्थ है; उनसे तो कौआ भी अच्छा है जो जला हुआ कूड़े का ढ़ेर मिलने पर भी अकेला नहीं खाता, किंतु काँव-काँव करके दूसरे कौओं को बुलाकर खाता है। पूर्व भव में गुणों के जलने से**

पुण्य-बंध हुआ है, क्योंकि शांत वीतरागीदशा के फलस्वरूप संयोग प्राप्त नहीं होते; तथापि पुण्यरूपी धूल में से पाँच-पच्चीस लाख मिलें और उन्हें अकेला खाये तो वह कौए से भी छुद्र है; इसलिये गृहस्थों को दान का विभाग अवश्य बनाना चाहिये।

एक दोहा है कि:—

'मानव होना कठिन है, हुआ तो बड़ा भाग्य,
साधु हुआ तो सिद्ध हुआ, रहा न कोई कार्य।'

इस दोहे पर से ऐसा समझना चाहिये कि—अहो! मुनिपद तो सिद्ध परमेष्ठी के निकट पहुँचने का पद है; ऐसे निर्ग्रंथ साधु परमेष्ठी निरंतर चिदानंदस्वरूप में एकाग्रता द्वारा लीन रहते हैं; उन्हें भक्तिपूर्वक आहारदान देने का धन्य अवसर कब प्राप्त होगा ?—ऐसी भावना धर्मी जीव निरंतर भारते हैं और सर्वत्र संतों का स्मरण करते हैं। जो आहारदान द्वारा भक्ति करते हैं, उनके भाग्य का तो पूछना ही क्या! क्योंकि वीतराग का भक्त क्रमशः राग को नष्ट करके सिद्ध परमात्मा होगा ही। जिस आत्मा में त्रैकालिक अरागी के लक्ष से क्रमशः राग को दूर करने की शक्ति है, उसमें राग का सर्वथा अभाव करने की शक्ति है।

'राग-लोभ को कम करूँ', इसमें से यह सिद्धांत निकलता है कि—एकेन्द्रिय निगोददशा में जहाँ ज्ञान, दर्शन बल की अतिशय हीनता है, वहाँ से मरकर जो जीव मनुष्य होता है, वह अपने वीर्य (पुरुषार्थ) से होता है। जिसप्रकार तीव्र कषाय में वीर्य (बल) लगाने से जीव को नीच गति मिलती है, उसीप्रकार जब वह स्वतंत्ररूप से मंदकषाय करता है, तब उसके फल में मनुष्य भव प्राप्त होता है।

अब, पंचेन्द्रियपना प्राप्त हुआ तो उससे क्या ? पुण्य कर्म भी छूट जाते हैं, वे भी शरण नहीं होते। चींटी हो या राजा हो—दोनों को शरीर छोड़कर दूसरी गति में जाना पड़ता है। इसप्रकार दोनों जीव स्वतंत्र हैं। मैं त्रिकाली ज्ञान-आनन्द हूँ—ऐसे भानपूर्वक राग कम करके दान कर सकता है।

अब, आचार्यदेव कहते हैं कि:—

वह घर कैसा जिस घर में मुनि-धर्मात्मा का सत्कार, चरण-स्पर्श न हुआ हो! मुनि को नवधाभक्तिपूर्वक आहारदान दिया जाता है; ऐसे संत-धर्मात्मा के चरणों से जिसका गृह पवित्र नहीं हुआ और धर्मात्मा जिसके हृदय में स्मरणरूप से प्रविष्ट नहीं हुए, उसका घर और मन श्मशान के समान हैं अर्थात् व्यर्थ हैं।

आत्मा और बंध को पृथक् करके मोक्ष साधनेवाली

भगवती प्रज्ञा

जिसके अंतर में भेदज्ञान की उत्कंठा जागृत हुई है—ऐसे मोक्षार्थी शिष्य ने पूछा था कि—प्रभो! प्रज्ञा ही मोक्ष का साधन है, ऐसा आपने समझाया; तो उस प्रज्ञा द्वारा वास्तव में किसप्रकार आत्मा और बंध को पृथक् किया जा सकता है? उसके उत्तर में आचार्यदेव ने भेदज्ञान की अलौकिक बात (गाथा २९४ में) समझाई; आत्मा का लक्षण ज्ञान और बंध का लक्षण राग है—इन दोनों को स्पष्टरूप से भिन्न बतलाया। इसप्रकार आत्मा और बन्ध दोनों को स्पष्टरूप से अत्यन्त पृथक् करनेवाली भगवती प्रज्ञा ही मोक्ष का साधन है। इसप्रकार भगवती प्रज्ञा का ही मोक्ष के साधनरूप में वर्णन करके अब आचार्यदेव उस पर अलौकिक कलश चढ़ाते हैं; उसमें आत्मा और बंध को तीक्ष्ण प्रज्ञा-छैनी किसप्रकार पृथक् करती है, उसके पुरुषार्थ का अद्भुत वर्णन करते हैं:—

(स्रग्धरा)

प्रज्ञाछेत्री शितेयं कथमपि निपुणैः पातिता सावधानैः
सूक्ष्मेऽन्तःसंधिबंधे निपतति रभसात् आत्मकर्मोभयस्य।
आत्मानं मग्नमन्तःस्थिरविशदलशत् धाम्नि चैतन्यपूरे
बंधं चाज्ञानभावे नियमितमभितः कुर्वती भिन्नभिन्नौ॥१८१॥

भेदज्ञान के वर्णन का यह श्लोक अति सुंदर है; यह सबको कण्ठस्थ करने योग्य हैं।

देखो, यह भेदज्ञान की रीति! प्रवीण पुरुष अर्थात् विचक्षण बुद्धिवाले आत्मार्थी जीव अत्यंत सावधानी से प्रज्ञाछैनी द्वारा आत्मा और बंध को पृथक्-पृथक् कर देते हैं। अपने सर्व प्रयत्न द्वारा अर्थात् सम्पूर्ण जगत् से विमुख होकर चैतन्योन्मुख होने के उद्यम द्वारा, अत्यंत जागृतिपूर्वक आत्मा और बंध की संधि के बीच में प्रज्ञाछैनी को डालकर मुमुक्षु जीव उन्हें पृथक् कर देते हैं। दोनों को पृथक् करने के लिये दो का आश्रय नहीं है; आश्रय तो एक आत्मा का ही है। जहाँ 'प्रज्ञा' आत्मोन्मुख होकर एकाग्र हुई, वहाँ वह बंध से पृथक् हो गई; ज्ञान परिणति और आत्मा की एकता हुई, उसमें राग व बंधभाव नहीं आया; बंध पृथक् ही रह गया और आत्मा बंधन से छूट गया।—इसप्रकार भगवती प्रज्ञा बंध को छेदकर आत्मा को मुक्ति प्राप्त कराती है।

इस शांत-लयवाले इस श्लोक में आचार्यदेव कहते हैं कि—हे जीव! बंध रहित ऐसे अपने चिदानंद आत्मा को अंतर में देखने के लिये तू धीर हो... धीर होकर अर्थात् राग की आकुलता से किंचित् पृथक् होकर अंतरोन्मुख हो। राग से पृथक् होकर जो अंतरोन्मुख हुआ, उसने आत्मा और बंध के बीच प्रज्ञाछैनी डाल दी। प्रवीण पुरुषों द्वारा सावधानी से डाली हुई वह प्रज्ञाछैनी किसप्रकार गिरती है ?—शीघ्र गिरती है—तत्क्षण ही आत्मा और बंध का भेदज्ञान करती हुई गिरती है; ज्यों ही ज्ञान अंतरोन्मुख हुआ कि तुरंत बंध का छेदन करके उसे आत्मा से पृथक् कर देती है। देखो, यह बंध को छेदनेवाली छैनी! यह प्रज्ञाछैनी ही मोक्ष का साधन है।

(१) एक तो, (प्रज्ञाछेत्री शितेयं) प्रज्ञाछैनी तीक्ष्ण है;

(२) दूसरे, (कथमपि) किसी भी प्रकार, अर्थात् सर्व उद्यम को उसी में रोककर वह छैनी गिराई जाती है।

(३) तीसरे, (निपुणैः) निपुण पुरुषों द्वारा अर्थात् मोक्ष के उद्यमी मोक्षार्थी पुरुषों द्वारा वह गिराई जाती है।

(४) चौथे, (पातिता सावधाने) सावधान होकर अर्थात् मोह को दूर करके आत्मस्वरूपोन्मुख होकर वह प्रज्ञाछैनी गिराई जाती है।

(५) और पाँचवाँ, (निपतति रभसात्) वह प्रज्ञाछैनी शीघ्रतः गिरती है।

—इसप्रकार पाँच विशेषणों से आचार्यदेव ने भेदज्ञान का अपूर्व पुरुषार्थ दर्शाया है, ऐसे पुरुषार्थ से गिराई गई प्रज्ञाछैनी आत्मा और बंध को सर्व ओर से अत्यंत पृथक् कर डालती है। बंध के एक अंश को भी आत्मा में एकमेक नहीं करती। इसप्रकार बंध को सर्वप्रकार से छेदकर आत्मा को मोक्ष प्राप्त करानेवाली इस 'प्रज्ञा' को आचार्यदेव ने 'भगवती' कहकर उसका गुणगान किया है।

पहले २३ वें कलश में कहा था कि हे भव्य! तू किसी भी प्रकार—मरकर भी तत्त्व का कौतूहली हो और शरीर से भिन्न आत्मा का अनुभव कर। उसीप्रकार, यहाँ भी कहते हैं कि हे मोक्षार्थी! तू किसी भी प्रकार सारे जगत् की दरकार छोड़कर भी, इस भगवती प्रज्ञा को अंतर में पटककर बंध को छेद डाल! 'किसी भी प्रकार'—ऐसा कहकर कर्म आदि बाधक होंगे—यह बात उड़ा दी है। कोई कहे कि—कर्म बाधा डालें तो ?—आचार्यदेव कहते हैं कि अरे जीव! तू एकबार प्रज्ञाछैनी को हाथ में तो ले.... प्रज्ञाछैनी हाथ में लेते ही (अर्थात् ज्ञान को अंतर्मुख करते ही) कर्म

तो कहीं बाहर रह जायेंगे और छिद जायेंगे। यहाँ तो कोई कहे कि 'कर्म बाधक होंगे... ऐसा याद करें' तो वह सच्चा मोक्षार्थी नहीं है; सच्चा मोक्षार्थी तो उद्यम पूर्वक प्रज्ञाछैनी द्वारा भेदज्ञान करके आत्मा और बंध को अत्यंत पृथक् कर देता है।

अहा, आत्मा को बंधन से मुक्त करना ही मेरा कर्तव्य है; शुद्धात्मा को प्राप्त करना ही एक मेरा कर्तव्य है—इसप्रकार जिसे तीव्र लालसा जागृत हुई हो और संतों के निकट भेदज्ञान का ऐसा उपदेश प्राप्त हो तो वह जीव भेदज्ञान का पुरुषार्थ किये बिना कैसे रहेगा?—और ऐसा मोक्षार्थी जीव, बंध के एक कण को भी अपने स्वरूप में कैसा रखेगा?—नहीं रखेगा और भेदज्ञान के कार्य में वह प्रमाद कैसे कर सकता है? जैसे बादल में से मेघवर्षा के समय बिजली की चमक के क्षणिक प्रकाश में सुई में धागा पिरोना हो, वहाँ प्रमाद कैसे करे! उसीप्रकार अनंत कालीन संसार भ्रमण में बिजली चमक जैसा यह मनुष्य भव क्षणभंगुर है, उसमें चैतन्य में भेदज्ञानरूपी धागा पिरोने के लिये आत्मा की अत्यंत जागृति चाहिये। भाई! अनंत काल में इस चैतन्यभगवान को पहिचानने और मोक्ष को साधने का अवसर आया है। एक-एक क्षण करके लाखों का जा रहा है, आत्मभान के बिना दुःख से बचने का कोई मार्ग नहीं है; इसलिये सर्व उद्यम से अपने आत्मा को भेदज्ञान में लगा.... शूरवीरता से प्रज्ञाछैनी द्वारा अपने आत्मा के बंधभाव को छेद डाल! प्रज्ञाछैनी वह बंध को छेदने का अमोघ शस्त्र है, प्रज्ञाछैनी को सावधान होकर पटकने से अर्थात् जगत की अनुकूलताओं में रुके बिना तथा जगत की प्रतिकूलताओं से डरे बिना ज्ञान को अंतरोन्मुख करने से बंधन बाहर रह जाता है। अर्थात् आत्मा बंधन से छूट जाता है।—इसप्रकार बंधन को छेदकर मोक्ष प्राप्त करने का साधन भगवती प्रज्ञा ही है। *(—समयसार, कलश-१८१ के प्रवचन से)*

ज्ञानमात्र आत्मा में लीन होना, उसी से संतुष्ट होना तथा उसी से तृप्त होना – वह परम ध्यान है। उससे वर्तमान आनन्द का अनुभव होता है और अल्पकाल में ही ज्ञानानंदस्वरूप केवलज्ञान की प्राप्ति होती है।—ऐसा करनेवाले पुरुष को ही उस सुख की अनुभूति होती है, दूसरों का उसमें प्रवेश नहीं है।

अहा! आत्मा का ज्ञानस्वभाव ऐसा अचिंत्य-महिमावान है, तो फिर उसका अवलम्बन करनेवाले ज्ञानी को किसी अन्य परिग्रह के सेवन से क्या साध्य है?

(—समयसार, निर्जरा-अधिकार के प्रवचनों से)

ऋषि, साधु, यति, मुनित्व

[आत्मा में नित्य अनंत गुणरूप अनन्तीशक्ति है प्रत्येक गुण असहाय, होने पर भी स्वद्रव्य के आश्रय में रहनेवाले हैं, उन एक-एक गुण में ये चारों भेद लागू पड़ते हैं ।]

१- सत्ता गुण में—

सत्ता-अस्तित्व गुण का नाम है। सत्ता की रिषि संज्ञा होती है, सत्ता, शाश्वती रिद्धि की कारण है। स्वयं अविनाशी है, सत्ता के आधार-सत्ता संयुक्त उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य हैं; सत्ता अपनी शाश्वती रिद्धि द्रव्य को देती है, तब द्रव्य शाश्वत भया, गुण को देने से गुण शाश्वत हुआ। ज्ञान का जानपना गुण, ज्ञान द्रव्य, ज्ञान परिणति-पर्याय। ज्ञान स्वसंवेदी ज्ञान ज्ञेय ज्ञायक ज्ञान अपने आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय का जाननहार ऐसे ज्ञान को शाश्वत् सत्ता गुण ने किया, सो ज्ञानसत्ता है। ज्ञानसत्ता से ज्ञान शाश्वत, वह शाश्वत रिद्धि ज्ञान को सत्तागुण ने दी है। दर्शन-गुण का सत् से दर्शन शाश्वत है, दर्शन सब परभाव-स्वभाव सब ज्ञेय को देखता है, अपने आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय को देखता है, दर्शन द्रव्य है, देखना गुण है, दर्शन परिणति पर्याय है। यदि दर्शन न हो तो ज्ञायकता न होती, ज्ञायकता का नाश होते चेतना का अभाव होता, इसलिये सकल चेतना का कारण एक दर्शन गुण है। सर्वदर्शित्व महिमा ने दर्शन-गुण धारण किया है, उसको शाश्वत दर्शन सत्ता गुण ने किया, यह शाश्वत रखने की रिद्धि दर्शन को सत्तागुण ने दी है, इससे सत्ता की रिद्धि दर्शन गुण में है।

अब द्रव्यत्वगुण को सत्ता रिद्धि दी है, यह कहते हैं

द्रव्यत्वगुण द्वारा द्रव्य, गुण-पर्यायों को द्रवे, गुण-पर्याय, द्रव्य को द्रव्ये द्रवीभूत द्रव्य के भया तब द्रव्य परिणमित हुआ, गुण में द्रवे बिना परिणति न होती। द्रव्य शाश्वत नित्य जहाँ जैसा था वहाँ तैसा न रहता, तब परिणति बिना उत्पाद द्वारा स्वरूप लाभ था, सो न होता, व्यय न होता, तब परिणति स्वरूप निवास न करती, ध्रुवता की सिद्धि न होती। उत्पाद-व्यय बिना ध्रुव न होता, तब परिणति स्वरूप निवास न करती, ध्रुवता की सिद्धि न होती। उत्पाद-व्यय बिना ध्रुव न होता इससे परिणति से उत्पाद-व्यय, उत्पाद-व्यय से ध्रुव सिद्धि, सो परिणति होना द्रवत सें है, इसलिये द्रव्य द्रया तब परिणति हुई। गुण द्रये तब गुण परिणति गुणों से हुई, सब गुण का युगपत् भाव गुण परिणति ने किया।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि—युगपत् गुण की सिद्धि परिणति ने की तो क्रमवर्ती से युगपत् भाव कैसे हुआ ?

उसका समाधान—जो वस्तु है, सो क्रम-सहभावी भावरूप है। गुण परिणति क्रम गुण का है। गुण लक्षण सहभावी है, सब गुण सहभाव क्रमभाव को धारण करते हैं। गुण अपने लक्षणरूप सदा शाश्वत है, उसके गुण के लक्षण को गुण परिणति सिद्ध करती है। द्रव्य गुणों में परिणमित हुआ तब गुण परिणति हुई। द्रव्य गुणरूप न परिणमे तो गुण की सिद्धि नहीं होती, इसलिये परिणति से गुण का सर्व स्वरस प्रगट होते हैं। सर्व स्वरस प्रगटने से गुण की सिद्धि है, गुण बिना गुणी नहीं, गुणी बिना गुण नहीं, इसलिये गुण परिणति बिना नहीं, परिणति गुण बिना नहीं, इससे क्रम परिणति से युगपत् गुण की सिद्धि है। इसप्रकार द्रव्यत्वगुण को शाश्वती रिद्धि सत्ता गुण ने दी, इसलिये सत्ता की रिद्धि से द्रव्यत्वविलास की सिद्धि है।

वस्तुत्व, गुणवस्तु के भाव को कारण है, सो शाश्वत् है; सामान्य-विशेष भावरूप वस्तु की सिद्धि करते हैं, सब गुण अपना सामान्य-विशेष भाव धारण करके आप वस्तुस्वरूप भये सामान्य प्रकाश, विशेष प्रकाश सामान्य-विशेष से है, सो सामान्यविशेष का विलास सब गुण करते हैं। वस्तु संज्ञा सब धारण करते हैं, सो सामान्य-विशेषरूप वस्तुत्व विलास की सिद्धि सत्ता गुण ने शाश्वतभाव दिया, इसलिये है, सो सत्ता की रिद्धि शाश्वतभाव सबको देती है। वीर्य गुण को वीर्य सत्ता ने शाश्वतभाव दिया, वीर्य स्व स्वरूप निष्पन्न रखने की सामर्थ्यरूप गुण वीर्यगुण निष्पन्न रखता है। द्रव्यवीर्य द्रव्य को निष्पन्न रखे, सामर्थ्यता अपने द्वारा, पर्यायवीर्य, पर्याय को निष्पन्न (प्राप्त) रखने को समर्थ वीर्य गुण का विलास वीर्य अपार शक्ति धारण करके (विलास) करता है।

उसकी सिद्धि एक वीर्य सत्ता में हुई है इसप्रकार एक सत्ता की रिद्धि सब गुण में फैलती है, तब सब शाश्वत हुआ, यह सत्तागुण की रिद्धि कही ऐसी रिद्धि कारण करता है, इसलिये सत्ता को ऋषिश्वर कहिये।

अब सत्ता को साधु कहते हैं

मोक्षमार्ग को साधे सो साधु कहिये। सत्ता स्वपद को साधे। द्रव्यसत्ता द्रव्य को साधे, गुण सता गुण को साधे; पर्याय सत्ता पर्याय को साधे; ज्ञानसत्ता ज्ञान को साधे; दर्शन सत्ता दर्शन को साधे; वीर्य सत्ता वीर्य को साधे; प्रमेयत्वसत्ता प्रमेयत्व को साधे, ऐसे अनंतगुण की सत्ता अनंत गुण को साधे। द्रव्यसत्ता गुण को साधे, गुणसत्ता गुणसत्ता को साधे। पर्यायसत्ता से पर्याय है। पर्याय उत्पाद-

व्यय-ध्रौव्य को करें। पर्याय बिना उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य न होय। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य बिना सत्ता न होय, इसलिये पर्यायसत्ता द्रव्य-गुण को साधे, ज्ञानसत्ता न होय तो ज्ञान न होय। तब सब गुण द्रव्य पर्याय का जानपना न होय। जानपना न होय तो द्रव्य-गुण-पर्याय का सर्वस्व को न जाने। उनका सर्वस्व न जान्या तब ज्ञेय नाश हुआ।

ज्ञान ज्ञेय अभाव भये वस्तु का अभाव हुआ। दर्शनसत्ता न होय तब दर्शन का अभाव होय। दर्शन का अभाव से देखना मिटे, तब ज्ञान विशेष बिना सामान्य न होय। इसलिये सबको सामान्य, विशेष सिद्ध करता है। बिना सामान्य, विशेष नहीं, बिना विशेष सामान्य नहीं। इसलिये दर्शन सत्ता से दर्शन, दर्शन से ज्ञान, तब वस्तु सिद्धि है।

प्रमेयसत्ता न होय तो सब प्रमेय न रहे। तब प्रमाण करने योग्य द्रव्य-गुण-पर्याय न होय, इसलिये सत्ता सब को साधती है। इसप्रकार अनंतगुण की, द्रव्य की, पर्याय की सत्ता गुण सिद्धि करता है। इसलिये सो सत्ता ही साधक, इससे सत्ता 'साधु' ऐसा नाम पाते हैं।

अब सत्तागुण को यति कहा जाता है

असत् विकार को जीतने में आया है, इसलिये यति कहते हैं। सत्ता में असत्ता नहीं, इसलिये यति। उसका विशेष—सत्ता में नास्ति-अभाव हुआ, नास्ति के विकार जीतने से यति, ज्ञानसत्ता ज्ञान का नास्ति-विकार मेटा, दर्शनसत्ता ने, दर्शन का नास्तिपना दूर किया; वीर्यसत्ता ने अवस्तुत्व का अभाव किया। इसप्रकार सब गुण की सत्ता प्रतिपक्षी के अभाव द्वारा स्थिर है, इसलिये यति कहते हैं।

सत्ता गुण को मुनिसंज्ञा

सत्ता अपने स्वरूप का प्रत्यक्ष प्रकाश शाश्वत लक्षण द्वारा करते हैं अथवा प्रत्यक्ष केवलज्ञान सत्ता धारण करता है, इसलिये सत्तागुण को मुनि कहा जाता है। (क्रमशः)

[श्री दीपचंदजी साधर्मी कृत परमात्म पुराण के आधार से]

शास्त्र पढ़ने का फल

शुद्धात्मा का आश्रय

शास्त्र पढ़ने का तात्पर्य—शुद्ध ज्ञानमय आत्मा का आश्रय करना ही है; ऐसा संतों ने कहा है। जिसके शास्त्र के तात्पर्यरूप शुद्धज्ञानमय आत्मा के आश्रय का अभाव है, वह जीव वास्तव में शास्त्र पढ़ा ही नहीं है।

प्रश्नः—ग्यारह अंग पढ़ने पर भी अभव्य जीव को सम्यग्ज्ञान क्यों नहीं है ?

उत्तरः—क्योंकि ज्ञान की श्रद्धा का उसके अभाव है, इसलिये वह अज्ञानी ही है।

प्रश्नः—वह अज्ञानी जीव, मोक्ष की श्रद्धा करता है या नहीं ?

उत्तरः—मोक्ष की भी वह श्रद्धा नहीं करता; क्योंकि शुद्ध ज्ञानमय ऐसे आत्मा को वह नहीं जानता। जिसे शुद्धज्ञानमय आत्मा का भान न हो, उसे मोक्ष की भी श्रद्धा नहीं होती; और मोक्ष की श्रद्धा के बिना चाहे जितने शास्त्र पढ़ ले, तथापि आत्मा का लाभ कहाँ से होगा ?—सम्यग्ज्ञान कहाँ से होगा ? शास्त्रों का हेतु तो शुद्धज्ञानमय आत्मा दर्शाकर मोक्ष के उपाय में लगाने का था, परंतु जिसे मोक्ष की ही श्रद्धा नहीं है, उसे शास्त्रपठन कहाँ तक लाभदायी सिद्ध होगा ? इसलिये अभव्य जीव ग्यारह अंग का पाठी होने पर भी अज्ञानी ही रहता है। अभव्य के दृष्टान्तानुसार अन्य भव्य जीवों का भी इसीप्रकार समझ लेना चाहिये। अंतर्मुख होकर, राग से पृथक् होकर, शुद्धज्ञानमय आत्मा को जो जानता है, वही सम्यग्ज्ञानी होता है।

प्रश्नः—शास्त्र-पठन का तात्पर्य क्या है ?

उत्तरः—शास्त्रों का तात्पर्य तो भिन्न वस्तुभूत ज्ञानमय आत्मा बतलाने का है; ऐसे आत्मा का ज्ञान ही शास्त्र पठन का तात्पर्य है। जो जीव ऐसे आत्मा को नहीं जानता, वह वास्तव में शास्त्र पढ़ा ही नहीं है। ज्ञानस्वभावी आत्मा, राग से भी भिन्न है—ऐसा बतलाकर शास्त्र ज्ञानस्वभाव का ही अवलम्बन कराते हैं और रागादि का अवलम्बन छुड़ाते हैं।—यही शास्त्रों का तात्पर्य है और यही शास्त्र पढ़ने का लाभ है। उसका (-अर्थात् भिन्न वस्तुभूत शुद्धज्ञानस्वभावी आत्मा के ज्ञान का) जिसके अभाव है, उसे शास्त्र पढ़ने के फल का अभाव है, इसलिये वह अज्ञानी ही है।

मोक्ष की श्रद्धा कहो, शुद्धज्ञान की श्रद्धा कहो, आत्मा की श्रद्धा कहो अथवा सर्वज्ञ की श्रद्धा कहो—उसका अज्ञानी के अभाव है। शास्त्रों का फल भी यह है कि राग से पार शुद्धज्ञानमय आत्मा

का स्वरूप जानकर उसी का आश्रय करना।—ऐसा करने से ही मोक्ष की श्रद्धा होती है, ऐसा करने से ही शुद्धज्ञान की श्रद्धा होती है, ऐसा करने से ही आत्मा की और सर्वज्ञ की श्रद्धा होती है। परंतु शास्त्रों में जहाँ व्यवहार का कथन आये, वहाँ उस व्यवहार की रुचि में ही जो अटक जाता है, उसके शास्त्र पठने के फल का अभाव है, इसलिये आत्मा आदि का ज्ञान न होने से वह अज्ञानी ही रहता है। इसप्रकार जिसे व्यवहार की रुचि है, वह शास्त्र पढ़े, तब भी अज्ञानी ही है; और जिसने शुद्धात्मा की रुचि करके उसका आश्रय किया है, उसके अन्य शास्त्राभ्यास कदाचित् अल्प हो, तथापि वह सम्यग्ज्ञानी ही है। *[-समयसार गाथा २९४ के प्रवचन से]*

— ज्ञान —

आत्मा ज्ञानस्वरूप है; जगत के किसी भी प्रसंग को अथवा किसी भी पदार्थ को जानते समय उसे जाननेवाला अपना ज्ञान वहाँ वर्त ही रहा है; परंतु वहाँ 'यह जो ज्ञान है, सो मैं हूँ'—ऐसे ज्ञानस्वरूप का स्वीकार न करके मात्र ज्ञेयों का ही स्वीकार करता है, वह जीव अज्ञानभाव के कारण परद्रव्य के साथ एकताबुद्धिरूप मोह के कारण आत्मा को नहीं साध पाता। मेरा ज्ञान सर्व प्रसंगों पर सर्व परज्ञेयों से पृथक्‌रूप वर्त रहा है, और वह ज्ञानस्वरूप मैं हूँ; पर को जानते हुए मैं पररूप नहीं हो जाता—इसप्रकार अपने आत्मा को ज्ञानस्वरूप रूप अनुभव करने से भगवान आत्मा की प्रसिद्धि होती है।

ज्ञेयों को जानते हुए अज्ञानी को मात्र परज्ञेय दृष्टिगोचर होते हैं, किंतु उन ज्ञेयों को जाननेवाला अपना ज्ञान वहाँ वर्त रहा है, वह उसे दिखाई नहीं देता; इसलिये वह ज्ञानस्वरूप आत्मा को नहीं साध सकता—नहीं देख सकता।

ज्ञेयों को जानते समय भी 'इसमें जो ज्ञाता है, वही मैं हूँ अर्थात् ज्ञानस्वरूप ही मैं हूँ'—ऐसा जानता हुआ धर्मात्मा जीव अपने को नि:शंकरूप से सदा ज्ञानस्वरूप ही अनुभव करता है, इसलिये उसे ज्ञानस्वरूप आत्मा की सिद्धि होती है।

इसलिये आत्मा का सदैव ज्ञानस्वरूप से सेवन करना चाहिये

अनादि से आत्मा को रागरूप मानकर राग का ही सेवन किया है; किंतु राग से भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्मा को पहिचान कर पूर्व काल में कभी उसका सेवन एक क्षणमात्र भी नहीं किया। यदि आत्मा को ज्ञान स्वरूप से पहिचानकर एक क्षण भी उसका सेवन (श्रद्धा-ज्ञान-रमणता) करे तो स्वालंबी दृष्टि ज्ञान और स्थिरता के बल से बलवान होकर वह जीव अवश्य मुक्ति प्राप्त करता है।

रटन.... और.... भावना

सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी कई बार अध्यात्मरस में लीन होकर अति वैराग्यपूर्ण स्वर में निम्नोक्त पद को पुनः पुनः गा उठते हैं—

ज्यां चेतन त्यां सर्व गुण..... केवली भाखे अेम....
प्रगट अनुभव आपणो... निर्मल करो सप्रेम... रे...
—चैतन्य प्रभु! प्रभुता तमारी चैतन्यधाम मां.....
—जिनवर प्रभु! पधार्या समोसरणधाम मां.....

गुरुदेव को यह पद अत्यन्त प्रिय है..... कई बार वे एकांत में यह पद गाते हैं और उसके भावों की गहराई में डूब जाते हैं। एकबार तो बाहर मैदान में दोपहर के समय अकेले बैठे उन्होंने इन पद की धुन जमायी थी; उसमें 'केवली भाखे अेम...' इस पंक्ति के स्थान पर निम्नानुसार बदल-बदलकर उसका रटन करते थे—

'जिनवर बोले अेम.....'
'सर्वज्ञ भणे छे अेम.....'
'भगवंत भाखे छे अेम.....'
'अरिहंत कहे छे अेम.....'
'तीर्थंकर भाखे छे अेम.....'

'प्रभुजी बोले छे अेम.....'
'दिव्यध्वनि कहे छे अेम.....'
'मुनिवरो कहे छे अेम.....'

—इस पद का मंथन करते-करते गुरुदेव के हृदय में एक और भावना जागृत हो उठी—वह थी—मुनिवरों के दर्शन की! "अहा! इस समय किन्हीं मुनिराज के दर्शन हों तो कितना अच्छा! कोई परम दिगम्बर संत-मुनि इस समय ऊपर से नीचे पधार कर दर्शन दें तो अहो भाग्य! कुंदकुंद भगवान जैसे कोई मुनिवर कहीं आकाश मार्ग से यहाँ आ पहुँचें और उनके दर्शन हों.... तो धनभाग्य!!'—ऐसी अनेक भावनाएँ गुरुदेव के अंतर में उल्लसित हो रही थी।—वह दिन था श्रावण शुक्ला पंचमी का।

धर्मात्मा के हृदय में सहज आत्मसंपदा
स्फुरित होती है

धर्मात्मा जब अपने चिदानंदस्वरूप में एकाग्र होते हैं, तब उस उत्तम आत्मा के हृदय में समता के साथ-साथ आत्म सम्पदा स्फुरित होती है... अतीन्द्रिय आनन्द के झरने बहते हैं। देखो, इसका नाम समाधि है। प्रथम चौथे गुणस्थान में भी इसप्रकार की सम्यक्त्व-समाधि होती है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र, यह तीनों समाधि हैं; तीनों में आत्मसम्पदा का स्फुरण होता है। सम्यक्त्व की स्फुरणा होने से धर्मात्मा के हृदय में मानों सिद्ध भगवान पधारे हों!—इसप्रकार वह अपनी आत्मसम्पदा का अनुभव करता है। यहाँ मुनिराज कहते हैं कि अहो! अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर यह सहज आत्मसम्पदा ही हम जैसों का विषय है, तथापि हम भी जब तक अंतर्मुख होकर समाधिरूप परिणमित नहीं होते, तब तक हम उस आत्मसम्पदा का अनुभव नहीं करते। शुभवृत्ति का उपजना भी हमारी चैतन्य सम्पदा में सम्पदा के अनुभव को रोकनेवाला है।

स्वाश्रय द्वारा ज्ञायकस्वरूप में लीनता, सो समाधि है; उस वीतरागी समाधि में से आनन्द के झरने झरते हैं और समस्त कर्म कलंक को धो डालते हैं। देखो, यह समाधि! चैतन्य को भूले हुए

अज्ञानी जीव बाह्य विषयों में लीनता से मूढ़ होकर अनंत काल से असमाधि-मरण करते हैं; जीवितावस्था में भी उन्हें असमाधि है और मरते समय भी वे असमाधिरूप से मरते हैं।—भले ही कदाचित् भगवान का नाम लेते-लेते प्राण त्याग करें, तथापि चैतन्य के लक्ष बिना उन्हें असमाधि ही है। चिदानन्दतत्त्व का भान होने पर उसके आश्रय से धर्मात्मा को वीतरागी समाधि में अवर्णनीय आनन्द स्फुरित होता है। सम्यग्दर्शन होने पर भी धर्मात्मा के अंतर में ऐसा आनन्द स्फुरित होता है जिसको अज्ञानी को कल्पना भी नहीं आ सकती; तो फिर चैतन्य में लीन मुनिवरों के आनन्द की तो बात ही क्या!! ऐसे परम आनन्द की स्फुरणा, वह समता की सखी है, अर्थात् उत्तम पुरुषों को समाधि-काल में समता के साथ साथ ऐसे आनन्द की स्फुरणा होती है। संत-धर्मात्माओं के अतिरिक्त दूसरों का यह विषय नहीं है।

'समाधि वरं उत्तमं दिंतु'—ऐसी जो प्रार्थना भगवान के निकट करते हैं, उसमें इस समाधि की याचना है। समाधि क्या है, उसकी पहिचान भी जिसे नहीं है, वह तो यह भी नहीं जानता कि भगवान से क्या माँग रहा है; फिर उसे समाधि कहाँ से होगी? समाधि तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में है और वे चैतन्य के आश्रय से ही होते हैं। उस समाधि में धर्मात्मा को समता के साथ-साथ सहजानन्द के वेदनरूप आत्मसम्पदा स्फुरित होती है।

देखो, यह धर्मात्मा की सम्पदा! धर्मात्मा—उत्तम आत्मा चैतन्य की आनन्द सम्पदा को ही अपनी सम्पदा मानता है; चैतन्यानंद सम्पदा के निकट वह सारे जगत की संपदा को तुच्छ समझता है। चैतन्य के आनन्द को भूलकर जो बाह्य विषयों में सुख मानता है, वह तुच्छ बुद्धिवाला है। सहज आत्मसम्पदा उसका विषय नहीं है, अर्थात् उस तुच्छ-बुद्धिवाले जीव को चैतन्यसम्पदा का अनुभव नहीं होता। धर्मात्मा ही चिदानंदस्वभाव की सम्पदा को उत्तम जानते हुए समाधि द्वारा अंतर में उसका अनुभव करते हैं।

सम्यग्दर्शन भी ऐसे अनुभव से ही प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन होने पर धर्मात्मा के हृदय में सहज आनन्द की स्फुरणा होती है.... और मोक्ष का मार्ग खुल जाता है।

(कार्तिक कृष्णा ४; नियमसार कलश २०० के प्रवचन से)

★

ज्ञानस्वभाव की ओर ढले

तो

सर्वज्ञ की स्तुति हो

— आत्मा का स्वभाव 'ज्ञान' है।

— वह ज्ञानस्वभाव पूर्ण स्वानुभवप्रत्यक्ष हो सकता है। नीचे साधकदशा में भी मति-श्रुतज्ञान द्वारा उसका स्वानुभव ही हो सकता है।

— पूर्ण विकास को प्राप्त ज्ञान समस्त ज्ञेयों के पार को प्राप्त हो गया है। सर्वज्ञता को प्राप्त ज्ञान अपनी अचिंत्य शक्ति द्वारा अनंत पदार्थों के अंत को प्राप्त हो जाता है। पदार्थों का अंत न होने परे भी अपने अपार सामर्थ्य द्वारा ज्ञान उसे भी अपना ज्ञेय बनाता है। यदि उसे भी ज्ञेय न बनाये तो ज्ञान का सामर्थ्य अपूर्ण रह जाता है, इसलिये उसकी सर्वज्ञता सिद्ध नहीं होती।

— ज्ञान के ऐसे महान सामर्थ्य को जो जानता है, उस जीव का ज्ञान रागादि तुच्छ विभावों में न रुककर ज्ञान स्वभाव की ओर ही ढलता है।

— सर्वज्ञ की निश्चय स्तुति किसे कहा जाये ?—तो आचार्यदेव कहते हैं कि—इन्द्रियों से तथा राग से पार होकर अंतर में अपने सर्वज्ञस्वभाव की ओर उन्मुख होकर उसका स्वसंवेदन करना, वह सर्वज्ञ भगवान की सच्ची स्तुति है। जिसने सर्वज्ञ स्वभाव की श्रद्धा की, उसका स्वीकार किया, अनुभव किया, —उसने सर्वज्ञ की भक्ति की, वह सर्वज्ञ का दास हुआ, सर्वज्ञ का सेवक-आराधक हुआ, वह सर्वज्ञ के मार्ग में आया। जिसने ज्ञानस्वभाव की सन्मुखता नहीं की, उसकी श्रद्धा नहीं की,—उसने वास्तव में सर्वत्र अरिहंतदेव को नहीं पहिचाना है.... और बिना पहिचाने स्तुति कैसे होगी ?—इसलिये अपने स्वभाव की ओर ढले तो सर्वज्ञ की स्तुति हो।

(प्रवचनसार, गाथा ४८ के प्रवचन से)

ता दिन की बलिहारी

[कवि : भूधरदासजी

राग : मल्हार]

वे मुनिवर कब मिलि हैं उपगारी..... ।टेक ॥

साधु दिगम्बर नगन निरम्बर, संवर भूषणधारी....

वे मुनिवर.....

कंचन-काँच बराबर जिनके, ज्यों रिपु त्यों हितकारी,

महल मसान, मरन अरु जीवन, सम गरिमा अरु गारी....

वे मुनिवर.....

सम्यक्ज्ञान प्रधान पवन बल, तप पावक परजारी,

शोधक जीव-सुवर्ण सदा जे, काय कारिमा टारी.....

वे मुनिवर.....

जोरि जुगल कर भूधर विनवे, तिन पद धोक हमारी,

भाग उदय दरसन जब पाऊँ, ता दिन की बलिहारी....

वे मुनिवर.....

नया प्रकाशन

मूल में भूल (तीसरी आवृत्ति)

भैया भगवतीदासजी और कविवर बनारसीदासजी कृत निमित्त उपादान के दोहों पर सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी द्वारा प्रवचन जिसमें उपादानरूप निज शक्ति के अनुसार शुद्धरूप या अशुद्धरूप सभी परिणमन अपनी अपनी स्वतंत्रता से होते हैं, अन्य तो निमित्तमात्र-व्यवहारमात्र कारण है, ऐसा न मानकर निमित्त के अनुसार कार्य मानना मूल में भूल है—यह स्पष्ट किया है।

[पृष्ठ संख्या १४०, मूल्य ५५ नये पैसे]

समयसार प्रवचन भाग १, पृष्ठ ४८८ मूल्य ४.७५

समयसारजी शास्त्र की गाथा १ से १२ ऊपर सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी का अपूर्व प्रवचन है। निश्चय व्यवहार की संधिपूर्वक यथार्थ मोक्षमार्ग की प्ररूपणा उत्तम ढंग से की गई है। यह अच्छी तरह संशोधित दूसरी आवृत्ति है। थोक लेने पर कमीशन २५ प्रतिशत दिया जावेगा।

ग्राहकगण को सूचना

आत्मधर्म के जिन ग्राहकों को अपना पता बदलवाना हो, अथवा पते की गलती से अंक न मिलता हो, वे फिर से अपना सही पता मय ग्राहक नम्बर के सीधा कमल प्रिन्टर्स पो० मदनगंज (किशनगढ़) को लिखें। —प्रकाशक

छप रहे हैं।

१. श्री समयसारजी। २. अपूर्व अवसर पर प्रवचन।

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

पंचास्तिकाय	४ ॥)	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२ ॥)
मूल में भूल	।।।)	मोक्षशास्त्र बड़ी टीका सजिल्द	५)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	सम्यग्दर्शन (दूसरी आवृत्ति)	१ ॥=
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१ ।=)
समयसार प्रवचन भाग २	५ ।)		
समयसार प्रवचन भाग ३	४ ॥)	भेदविज्ञानसार	२)
प्रवचनसार	५)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
अष्टपाहुड़	३)	समाधितन्त्र	२ ।=
चिद्विलास	१=)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
मोक्षमार्ग–प्रकाशक की किरणें प्र०	१ ।=)	स्तोत्रत्रयी	॥)
द्वितीय भाग	२)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥–)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम–	३)
द्वितीय भाग	॥–)	आत्मधर्म फाइलें १–३–५–६–७–८–१०–११–१२–१३ वर्ष	३ ।।।)
तृतीय भाग	॥–)		
जैन बालपोथी	।)	शासन प्रभाव	=)

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।